# साहित्य, संस्कृति और समाजः एक विश्लेषण

**अभिषेक मणि तिवारी**

शोधार्थी
कुटीर पी0जी0 कालेज,
चक्के, जौनपुर

साहित्य, संस्कृति और समाज के बीच अंतर्संबंध होना स्वाभाविक है, क्योंकि संस्कृति एक समग्रता है और समग्रता का सृजन करने वाला एक महत्वपूर्ण घटक साहित्य है। सम्यकरूपेण विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि संस्कृति के निर्माण में साहित्य, ज्ञान, कला, नैतिकता, धार्मिक विधि–विधान एवं सामाजिक रीति–रिवाजों का विशिष्ट योगदान होता है। इस दृष्टि से साहित्य वह महत्वपूर्ण अवयव है, जिसका न सिर्फ संस्कृति के निमार्ण मे विशेष योगदान है। बल्कि यह संस्कृति को परिष्कृत और परिमार्जित भी करता है। यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि साहित्य उन अवयवों में से एक है, जो श्रेष्ठ संस्कृति का निर्माण करता है।

मनुष्य जब से सुशिक्षित हुआ और अपने को तथा अपनी प्रकृति को समझने की योग्यता पायी तब से उसने अपने ज्ञान एवं संस्कृति को व्यवस्थित करने और अग्रिम पीढ़ी को अग्रसारित करने हेतु उसे परिभाषाओं और लक्षणों की सीमा में बाँधना चाहा। परन्तु ज्ञान जैसे विशिष्ट गुण को परिभाषाओं और लक्षणों की संकीर्ण सीमा में नही बाँधा जा सकता और न ही उसे सीमाओं में बाँधकर उसके सार्थक स्वरूप का बोध किया जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान और परम्परा को हमें अपनी चेतना के विस्तृत पटल पर रखकर अवलोकन करना होगा। कुछ इसी प्रकार विषय हैं–**साहित्य, संस्कृति और समाज**।

साहित्य, संस्कृति और समाज के अन्तर्संबंध को विद्वानों ने कभी अलग–अलग, कभी एक ही दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया। किन्तु नवीनतम ज्ञान इनको प्रायः अलग ही मानते है। फिर भी सार्थक बोध हेतु इनको समग्रता में रखकर इनके अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का विश्लेषण करना होगा चूँकि साहित्य प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच में होता है, अतएव इसका प्रभाव भी व्यापक है। यह समाज में एकजुटता को बढ़ाकर इन्हें एक मंच पर लाता है और उस जनसंस्कृति का सूत्रपात्र करता है, जो प्रत्येक व्यक्ति को आसानी से उपलब्ध होती है। सत्य तो यह है कि संस्कृति के विकास में न सिर्फ साहित्य का अमूल्य योगदान है बल्कि यह श्रेष्ठ

संस्कृति का आधार स्तम्भ भी है। समाज और संस्कृति तो प्रत्येक देशकाल, वातावरण के अनुसार परिवर्तित होते रहते है। किन्तु यह सत्य है कि एक दूसरे के बिना ये अपूर्ण है तथा समग्रता में ही इनकी सार्थकता है। हमारा भारतीय समाज आधुनिकाता की दौड़ में भी अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये हुए है, जिसका प्रमुख कारण है साहित्य। भारतीय संस्कृति और समाज के परिपेक्ष्य में साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका है।

साहित्य वह विशिष्ट सांस्कृतिक तत्व है, जो हमें सांस्कृतिक जड़ता से बचाता है। श्रेष्ठ साहित्य के अभाव में सांस्कृतिक जड़ता बढ़ती है, जिससे समाज पतन की ओर उन्मुख होता जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सत्य ही कहा है कि—"सारे समाज को सुंदर बनाने की साधना का नाम साहित्य है।" साहित्य की यह विशिष्टिता है कि वह संस्कृति को स्थिर नहीं होने देता। वह संस्कृति को गति एवं लय देकर जहाँ उसे जीवंतता प्रदान करता है, वहीं उसे स्थिरता से बचाता है। इस प्रकार साहित्य जहाँ संस्कृति को विकार रहित बनाये रखता है, वहीं जड़ता से सुरक्षा प्रदान करता है। संस्कृति को जीवंत बनाए रखने में तथा समाज को संस्कारित करने में साहित्य ने अपूर्व भूमिका निभाई है। वस्तुतः यह कहना असंगत न होगा कि साहित्य की अभिप्रेरणा द्वारा मनुष्य अपनी भावनाओं को मूर्तरुप देकर अपनी संस्कृति का पथ प्रदर्शन करता है। उदाहरण के लिए अनेक रंग और कागज पर एक कुशल चित्रकार ही उत्कृष्ट चित्र उकेर सकता है। उसी प्रकार साहित्य संस्कृतियों का समन्वय कर एक आदर्श समाज की स्थापना करता है। साहित्य की इसी विशिष्टिता के कारण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—"साहित्य समाज का दर्पण है।" क्योकि साहित्य के माध्यम से ही समाज के रीति—रिवाज, परम्पराएँ तथा प्राचीन संस्कृति को हम समाज में जीवंत रुप में प्रचलित पाते हैं। किसी भी समाज का साहित्य ही वह अमूल्य निधि है, जिसमें उसकी संस्कृति के निर्धारक तत्व यथा—सौन्दर्य, प्रेम, कला, नैतिकता, संस्कार निहित होते है। संस्कृति एवं समाज के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व नैतिक मूल्यों के निर्धारण में साहित्य की भूमिका कम नहीं हैं।

राजनीतिक दृष्टि से देखें तो यह बात किसी से छिपी नहीं है कि किसी भी देश को अराजकता से बचाने के लिए वहाँ एक प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था होनी ही चाहिए। प्राचीन समय में यह व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी जो कि आज लोकतंत्रात्मक हो गयी है। परन्तु यह व्यवस्था किस मूल्य को लेकर चलेगी इसके निर्धारण में साहित्य की भूमिका अवश्य रहती है। यूरोपीय देशों के साहित्य ने राजा का मुख्य कर्त्तव्य धर्म प्रचार बताया तो वहाँ सामाजिक संरचना में विधिक विकृतियाँ उत्पन्न हुई। परन्तु भारतीय साहित्य ने राजा का प्रमुख कर्त्तव्य लोकहित बताया तो भारतीय समाज में इस प्रकार की विकृतियाँ नहीं अपने पायीं।

**"एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः। अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम्।"**

(भागवत पुराण 1/17/10—11)

सामाजिक और पारिवारिक संरचना को भी देखें तो इसके मूल्यों तथा परम्पराओं के निर्धारण में भी साहित्य की भूमिका कम नहीं है। उदाहरण के तौर पर पुरुष का नारी के प्रति आकर्षण एक प्राकृतिक और नैसर्गिक प्रक्रिया है किन्तु इस आकर्षण को मर्यादित और संस्कारित करने का कार्य साहित्य ने ही किया है। यथा–

**अनुज वधू भगिनि सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी।**
**इन्हहि कुदृष्टि बिलोकई–जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई।।**

इतिहास इस बात का साक्षी है कि चाहे जिस कालखण्ड की संस्कृति हो, जहाँ ऐसे संस्कार और मर्यादाओं का पालन नहीं हुआ वहाँ पारिवारिक तथा सामाजिक तौर पर अराजकता फैली और उसका विनाश हुआ। नैतिक और मानवीय मूल्यों की बात करें तो हाल ही में घटित कोरोना आपदा जिसका अभी भी प्रभाव समाप्त नहीं हुआ है। यह आपदा चाहे मानव निर्मित रही हो या प्राकृतिक लेकिन विनाश मानव जाति का ही हुआ। इस आपदा में जब पश्चिमी देशों ने आपदा से बचाव हेतु टीका/वैक्सीन बनाया तो उसका सूत्र और निर्माण हेतु आवश्यक सामग्री अन्य देशों को देने से मना कर दिया। इसका मूल कारण ये था कि ये देश इसे किसी नैतिक मूल्य या मानवीय दृष्टि से न देखकर पूँजीवादी दृष्टि से देख रहे थे। वहीं जब भारत ने कोरोना आपदा से बचाव हेतु टीका बनाया तो स्वहित के साथ–साथ परहित की भावना से प्रेरित होकर पिछड़े और गरीब देशों को भी समान रुप से निर्यात किया क्योंकि हम किसी पूँजीवादी दृष्टि से प्रेरित नहीं थे अपितु हममें यह भावना थी जो कहती है कि सम्पूर्ण विश्व ही एक परिवार है, जिसका वर्णन हमारे साहित्य में कुछ इस प्रकार हुआ है–

**साहित्य, संस्कृति और समाज के बीच अंतर्संबंध होना स्वाभाविक है, क्योंकि संस्कृति एक समग्रता है संस्कृति के विकास में न सिर्फ साहित्य का अमूल्य योगदान है बल्कि यह श्रेष्ठ संस्कृति का आधार स्तम्भ है। ये दूसरे के बिना अपूर्ण है तथा समग्रता में ही इनकी सार्थकता है। हमारा भारतीय समाज आधुनिकाता की दौड़ में भी अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये हुए है, जिसका प्रमुख कारण साहित्य है। भारतीय संस्कृति और समाज के परिपेक्ष्य में साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका है।**

**अयं निजः परो वेति गणना लघु चेतसाम्।**
**उदाचरितानां तु वसुधैवकुटुम्बकम्।।  (महोपनिषद्, अध्याय 6 मंत्र–71)**

इस प्रकार भारतीय संस्कृति का आदर्श यह था जो हमारे साहित्य ने स्थापित किया। धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता, धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्यवादिता, सार्वभौकिता एवं सर्वांगीणता ये सभी भारतीय संस्कृति की विशिष्टताएँ हैं जिनसे मिलकर भारतीय संस्कृति सदैव गतिशील रही। इसने अपनी निरन्तरता को बनाए रखा। ये सभी विशिष्टिताएँ प्रायः दूसरी संस्कृतियों में देखने को नहीं मिलती है। स्थानीयता एवं संकीर्णता से बचते हुए भारतीय संस्कृति में सार्वभौमिकता

पर बल दिया है। यानी विश्व के कल्याण की कामना करने वाली यह संस्कृति लोक कल्याण की उदार भावना प्रेरित है। लोक कल्याण के हमारे सांस्कृति मूल्य कितने श्रेष्ठ है, इसका पता इस कल्याणकारी श्लोक से चलता है–

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत्।। (तैत्तिरीय उपनिषद्)**

अर्थात् सभी सुखी हों, विघ्न रहित हों, कल्याण का दर्शन करें, तथा किसी को कोई दुःख प्राप्त न हो। सार्वभौमिकता का इससे श्रेष्ठ उदाहरण और क्या हो सकता है।

अतः हमें यह कहना समीचीन प्रतीत होता है, कि साहित्य, संस्कृति और समाज का मार्गदर्शन करता है, किन्तु ऐसा नहीं है कि संस्कृति के निर्माण में और समाज को दिशा बोध कराने में साहित्य का कोई योगदान नहीं है। हमारी संस्कृति जैसी रहती है उसी मनोदशा का साहित्य भी लिखा जाता है। यथा–गुप्तकाल हमारे राजनीति इतिहास का स्वर्णकाल रहा तो उसी श्रेणी के कवि जैसे–कालिदास हुए। उसी प्रकार जब संस्कृति गिरी जैसे–औरंगजेब के समय तो साहित्य भी उसी कोटि का रहा। कभी हमारी संस्कृति में समाज का अपार महत्व था और साहित्य उसी का गान करता था। किन्तु स्वतंत्रता पश्चात् जब प्रथम प्रधानमंत्री भारतरत्न पं0 जवाहर लाल नेहरू ने श्रम के महत्व का आह्वान किया तो राष्ट्रकवि रामधारी सिंह "दिनकर" को लिखना पड़ा–

**धर्मराज संन्यास खोजना कायरता है मन की।**
**है सच्चा मनुष्य ग्रन्थियाँ। सुलझाना जीवन की।। (कुरूक्षेत्र पृ0–89)**

जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ–"हिन्दी साहित्य का इतिहास" में लिखा है– "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरुप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। ............. जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है।

साहित्य को समाज का दर्पण माना जाता है। इसलिए प्रत्येक युग के साहित्य में उस युग का समाज और उसके मूल्य प्रतिबिंबित होते है। लेकिन जहाँ तक मुझे लगता है, यह साहित्य और समाज की एकांगी व्याख्या है। साहित्य एवं समाज का अन्तर्संबंध एकांगी नहीं पारिस्थितिक है, इसलिए साहित्य को समाज का दर्पण ही नहीं माना जाना चाहिए। बल्कि दर्पण के साथ साथ दीपक भी माना जाना चाहिए। क्योंकि साहित्य समाज को दीपक के समान मनुष्य को दिशाबोध कराता है। साहित्य समाज में एकता की भावना के साथ–साथ मनुष्य में मनुष्यत्व की भावना को प्रेरित करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मनुष्य को साहित्य का लक्ष्य

घोषित करते हुए कहा है कि – "निखिल विश्व के साथ एकत्व की साधना ही साहित्य की साधना है।"

इस प्रकार साहित्य, संस्कृति और समाज एक दूसरे से प्रभावित तथा परिभाषित होते रहते हैं। इस क्रम में यह भी ध्यान रखने वाली बात है कि शब्द–अर्थ का हर आलंकारिक संयोग साहित्य ही नहीं है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहें तो –"जो साहित्य मनुष्य तथा समाज को रोग, शोक, दारिद्र, अज्ञान, तथा परमुखोपेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है, वह निश्चय ही अक्षय निधि है।"

निष्कर्षतः हम कह सकते है कि साहित्य संस्कृति और समाज के मध्य गहरा अन्तर्सबंध ही नहीं अटूट रिश्ता है। साहित्य जहाँ श्रेष्ठ संस्कृतियों को गढ़ने वाला शिल्पकार है, वहीं कालातीत हो चुकी संस्कृतियों को जानने का महत्वपूर्ण स्रोत भी है। साहित्य वह सांस्कृतिक अवयव है, जो संस्कृतियों के कालातीत हो जाने के बाद भी उन्हें जीवित बनाये रखता हैं तथा समाज को एक सूत्र में बँधे रहकर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता रहता है। यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि साहित्य, संस्कृति और समाज के ह्रदय का आदर्श रुप है।

**सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची :–**

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग–10 पृ0सं0 25
2. कुरुक्षेत्र–रामधारी सिंह 'दिनकर' पृ0सं0 89 (राजपाल एण्ड सन्स–संस्करण 2019 )
3. रामचरित मानस–किष्किंधाकाण्ड
4. भागवत पुराण श्लोक 1/17/10–11
5. महोपनिषद् अध्याय 6, मंत्र 71
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ0सं0 19
7. तैत्तिरीय उपनिषद्।